॥ श्रीहरिः ॥ 316

# ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

# ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है

वास्तवमें नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है, नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमांच और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलता-के समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्कामभावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है, ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, उस अपरिमित गुण-निधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं है तथापि अपने कतिपय मित्रोंके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है; अतएव इस लेखमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हों उनके लिये आपलोग क्षमा करें।

# महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है। सभी युगोंमें इसकी महिमाका विस्तार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है, परंतु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। यथा—

**हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।**
**कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥**

(ना० पु० १।१४।१५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।'

**कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।**
**द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥**

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-संकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।'

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा।
भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू।
भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥

सुमिरि पवनसुत पावन नामू।
अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ।
भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका।
भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।
रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

नाम-महिमामें प्रमाणोंका पार नहीं है। हमारे शास्त्र इससे भरे पड़े हैं; परंतु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते हैं। संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं प्रायः सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है, परंतु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो, सभी एक-सा लाभ पहुँचानेवाले हैं। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

# मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परंतु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष संख्यामें जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ? भगवत्कृपासे जो कुछ यत्किंचित् नामस्मरण मुझसे हो सका है उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था। जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषय-वासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी ही सहायता मिली, काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ। कभी-कभी नेत्र बंद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा। सांसारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी। भोगोंमें वैराग्य हो गया। उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-

के दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई। श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा, पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई; अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो।' यह सब नामका ही फल था।

इसके बाद नाम-जपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि नाम-जपसे मुझे जितना लाभ हुआ है उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नाम-जप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था। अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जब कि साधारण संख्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति,

इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्कामभावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है ?

## नाम-जप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है—

**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।**
**एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥**

(कठ० १।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार, कल्पवृक्षरूप भगवद्-भजनके प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है, परंतु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्कामभावसे ही भजन करना

चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥**

**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥**

(गीता ७।१६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं। उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।' इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

**योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**

(गीता ६। ३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे नित्य स्थित है।

भला सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं, वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिताके

सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शंका करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं, परंतु उनको कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जपरूप परम धनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसलिये नाम-जप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवान्‌के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

## नाम-जप कैसे करना चाहिये?

महर्षि पतंजलिजी कहते हैं—

**तस्य वाचकः प्रणवः।** (योग० १।२०)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

**तज्जपस्तदर्थभावनम्।** (योग० १।२८)

'उस परमात्माके नाम-जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

**ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।** (योग० १।२९)

उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि नाम-जप नामीके स्वरूपचिन्तनसहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नाम-जपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्प्राप्ति होती है।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

**देखिअहिं रूप नाम आधीना।**
**रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥**

**सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें।**
**आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥**

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना भी केवल नाम-जपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्-स्वरूपका साक्षात्कार अपने-आप ही हो सकता है, परंतु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्‌के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है, क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्‌की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता।

इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

**तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥**

(८।७)

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' भगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नाम-जपके साथ-ही-साथ

मन-बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये। जिससे क्षणभरके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभदायक है? और नामके साथ भगवान्‌के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि परमात्माके अनेक नाम हैं, उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसीके नाम-जपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको—अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार ही होना चाहिये। उदाहरणार्थ- '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। '**ॐ नमः शिवाय**' इस मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्रभगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ओंकारका जप

करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्ध ब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥**

(कलिसं० १)

इस मन्त्रका जप करनेवालेके लिये श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है, क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उस नाम-रूपके जप, ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परंतु नाम-जपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता

है, उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है, तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है; इसी प्रकार वीररस और करुणारसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है, तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो संदेह ही क्या!

अतएव साधकको भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नाम-जपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

# सत्संगसे ही नाम-जपमें श्रद्धा होती है!

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते? इसका उत्तर यह है कि भगवद्भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है, जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समान भावसे है, परंतु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता, तबतक उसे दयासे लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है, परंतु जबतक वह उसे जानता नहीं, तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परंतु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके संगसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त संचित पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

# नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शंका करे कि यदि भगवान् भजन करनेवालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या उनमें विषमताका दोष नहीं आता? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है, इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंको नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥**

(९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोंमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है, उसीके शीतका निवारण कर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है, परंतु जो

अग्निके समीप नहीं जाते, उनकी व्यथा नहीं मिटती। इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता, क्योंकि वह सभीको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है। कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे। इसी प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है, उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं। इसलिये भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

## नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शंका) यह बात मान ली गयी कि भगवन्नामसे पापोंका नाश होता है, परन्तु परमपदकी प्राप्ति तो उससे कैसे हो सकती है? क्योंकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है।

(उत्तर) यह ठीक है परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है; परन्तु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह

ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

भगवान्‌ने कहा है—

**मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥**
**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**
**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।**
**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥**

(गीता १०। ९—११)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले, मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही

मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

## नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नाम-जपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं। वे कहा करते हैं कि—'राम-राम' करना और 'टाँय-टाँय' करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नाम-जपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नाम-जपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें,

बल्कि कुछ समयतक नाम-जप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षा कर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये।

## नाम-जपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नाम-जप या भजनको अच्छा तो समझते हैं, परन्तु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं, उन्हें क्या कहा जाय! जीवनका सद्व्यय भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

**मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।**
**ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसंता गाम॥**
**आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा बास।**
**ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥**

**आज कहे मैं काल भजूँ , काल कहे फिर काल।**
**आज कालके करत ही, औसर जासी चाल॥**
**काल भजंता आज भज, आज भजंता अब।**
**पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥**

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो उठते-बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'माँ' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है। जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'माँ' के लिये रोना छोड़ देते हैं, 'माँ' भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है, परंतु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'माँ-माँ' पुकारा करता है, उसे 'माँ' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माँको तुरंत आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है, क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उनके इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं। जो उनमें भूल जाता है, वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है, परंतु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी मातासे मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कामोंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत ही आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

**केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।**
**रात दिवसके कूकते, कभी तो सुने पुकार॥**
**राम नाम रटते रहो, जब लगि घटमें प्रान।**
**कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥**

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है, दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं; भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये।

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको बाह्य धनादि पदार्थ देकर संतुष्ट करते हैं, परंतु भगवान् ऐसा नहीं करते। उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है, उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं।

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**

(गीता ४। ११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई खयाल नहीं करते। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं। यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं। वह उनकी कितनी दयाकी बात है।

अतएव इस अनित्य, क्षणभंगुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान्

न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये।

संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है।

**कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।**
**रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥**

# सत्यकी शरणसे मुक्ति

सत्—यह शब्द व्यापक है, असलमें तो 'सत्' शब्दपर विचार करनेसे यही सूझता है कि यह परमात्माका ही स्वरूप है—उसीका नाम है। जो पुरुष सत्के तत्त्वको जानता है वह परमात्माको जानता है। जो सत् है वही नित्य है—अमृत है। इसके तत्त्वका ज्ञाता मृत्युको जीत लेता है, शोक और मोहको लाँघकर निर्भय—नित्य परमधामको जा पहुँचता है। वह सदाके लिये अभय अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है। उसीको लोग संसारमें जीवन्मुक्त, ज्ञानी, महात्मा आदि नामोंसे पुकारते हैं। उसकी सबमें समबुद्धि हो जाती है, क्योंकि सत् परमात्मा सबमें सम है और वह सत्में स्थित है, इसलिये उसमें विषमताका दोष नहीं रह सकता। वह कभी असत्य नहीं बोलता। उसके मन, वाणी और शरीरके होनेवाले सभी कर्म सत्य होते हैं। उसकी कोई भी क्रिया असत्य न होनेसे उसके द्वारा किया हुआ प्रत्येक आचरण सत्य

समझा जाता है। वह जो आचरण करता या बतलाता है वही लोकमें प्रामाणिक माना जाता है—

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**

(गीता ३। २१)

ऐसे पुरुषका अन्तःकरण, शरीर और उसकी इन्द्रियाँ सत्यसे पूर्ण हो जाती हैं। उसके आहार-व्यवहार और क्रियाओंमें सत्य साक्षात् मूर्ति धारण करके विराजता है। ऐसे नररत्नोंका जन्म संसारमें धन्य है। अतः हमलोगोंको इस प्रकार समझकर सत्यकी शरण लेनी चाहिये अर्थात् उसे दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करना चाहिये।

## सत्यका स्वरूप

सत्य उसका नाम है जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता। जो नित्य एकरस, सदा-सर्वदा सब जगह समभावसे स्थित है और जो स्वतः प्रमाण है।

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**

(गीता २। १६)

ऐसा 'सत्य' एक विज्ञान आनन्दघन चेतन परमात्मदेव ही है। श्रुति कहती है—

**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** (तैत्ति० २।१)

जीवात्मा भी सत् है। परमेश्वरका अंश होनेके नाते उसको भी सनातन—नित्य कहा है—

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥**

(गीता १५।७)

गीता अध्याय २ श्लोक १७ से २१ और २३ से २५ तकमें इस विषयका वर्णन किया गया है। अतएव उस सनातन, अव्यक्त, सत्यरूप परमात्माकी शरण लेनेसे यह जीव मायाको लाँघकर सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। विज्ञान आनन्दघन परमात्मा सत्य है इसलिये उसका नाम भी सत् कहा गया है, क्योंकि रूपके अनुसार ही नाम होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है—

**ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**

(गीता १७।२३)

ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम ब्रह्मके बताये गये

हैं। 'सत्' शब्द भावका अर्थात् अस्तित्वका वाचक है। संसारमें जो कुछ भी सिद्ध होता है वह 'सत्' के आधारपर ही होता है, अतएव सारे संसारका आधार सत्य ही है। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। सत्यकी ही प्रतिष्ठासे सूर्य तपता है और वायु बहता है। बिना सत्यके किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्मा सबसे उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, इसलिये श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधुभावमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया गया है; अर्थात् जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधुभाव होता है वह सद्‌गुण, सद्भाव और सत्कर्म नामसे ही लोक और शास्त्रमें विख्यात है।

**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।**
**प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥**

(गीता १७। २६)

उत्तम कर्म होनेके नाते यज्ञ, दान और तप भी सत्कर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं एवं इनमें जो निष्ठा तथा स्थिति है उसे भी 'सत्' कहते हैं। स्वार्थको त्यागकर

सत्यस्वरूप परमात्माके अर्थ किया हुआ प्रत्येक कर्म लोक और शास्त्रमें सत्कर्मके नामसे ही विख्यात है।

**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।**
**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥**

(गीता १७। २७)

विचारनेसे यह बात युक्तियुक्त भी सिद्ध होती है कि सत्यके अर्थ जो भी क्रिया की जाती है, वह सत्य ही समझी जाती है। इसीलिये सत्यके निमित्त कर्म करनेवालेकी कायिक, मानसिक और वाचिक सम्पूर्ण क्रियाएँ सत्य ही होती हैं—यानी वे सब क्रियाएँ लोकमें सत्य प्रमाणित होती हैं।

## सत्य-भाषण

कपट, शब्द-चातुरी और कूटनीतिको छोड़कर हिंसा-वर्जित सरलताके साथ जैसा देखा, सुना और समझा हो उसे वैसा-का-वैसा—न कम, न ज्यादा—कह देना सत्यभाषण है। सत्य-भाषणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(१) न स्वयं झूठ कभी बोलना चाहिये और न किसीको प्रेरित करके बुलवाना चाहिये। दूसरेको प्रेरणा

करके अथवा उसपर दबाव डालकर जो उससे झूठ बुलवाता है वह स्वयं झूठ बोलनेकी अपेक्षा गुरुतर मिथ्या-भाषण करता है, क्योंकि इससे झूठका प्रचार अधिक होता है। किसी झूठ बोलनेवालेसे सहमत भी नहीं होना चाहिये। उस समय मौन साधे रहना भी एक प्रकारसे झूठ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह कि कृत, कारित और अनुमोदित—इनमेंसे किसी प्रकारका मिथ्या-भाषण नहीं होना चाहिये।

(२) जहाँतक बन पड़े किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये। निन्दा-स्तुति करनेवाला व्यक्ति स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय एवं उद्वेग आदिके वशीभूत होकर जोशमें आकर कम या अधिक निन्दा-स्तुति करने लग जाता है। इनमें निन्दा करना तो सर्वथा ही अनुचित है। विशेष योग्यता प्राप्त होनेपर यदि कहीं स्तुति करनी पड़े तो वहाँ भी बड़ी सावधानीके साथ काम लेना चाहिये।

जो अधिक स्तुतिके योग्य हो और उसकी कम स्तुति की जाय तो अर्थान्तरसे वह स्तुति निन्दाके तुल्य ही हो जाती है।

जो कम स्तुतिके योग्य हो, उसकी अधिक स्तुति हो जाय तो उससे जनतामें भ्रम फैलकर लाभके बदले हानि होनेकी सम्भावना है। इस प्रकारकी झूठी स्तुतिसे स्वयं अपनी और जिसकी स्तुति की जाय उसकी लाभके बदले हानि ही होती है। परन्तु किसी बातका निर्णय करनेके लिये राज्यमें या पंचायतमें जो यथार्थ बात कही जाय तो उसका नाम निन्दा-स्तुति नहीं है। उसमें यदि किसीकी निन्दा-स्तुतिके वाक्य कहने पड़ें तो भी उसे वास्तवमें वक्ताकी नीयत शुद्ध होनेसे उसे निन्दा-स्तुतिमें परिगणित नहीं करना चाहिये।

कोई व्यक्ति यदि अपने दोष जाननेके लिये पूछनेका आग्रह करे तो प्रेमपूर्वक शान्तिसे उसे उसका यथार्थ दोष बतला देना भी निन्दा नहीं है।

(३) यथासाध्य भविष्यत्‌की क्रियाओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऐसी क्रियाओंका प्रयोग विशेष करनेसे उनका सर्वथा पालन होना कठिन है; अतः उनके मिथ्या होनेकी सम्भावना पद-पदपर बनी रहती है। जैसे किसीको कह दिया कि 'मैं कल निश्चय

ही आपसे मिलूँगा,' किन्तु फिर यदि किसी कारणवश वहाँ जाना न हो सका तो उसकी प्रतिज्ञा झूठी समझी जाती है। अतः ऐसे अवसरोंपर यही कहना उचित है कि 'आपके घरपर कल मेरा आनेका विचार है या इरादा है।'

(४) किसीको शाप या वर नहीं देना चाहिये। इससे तपकी हानि होती है। शाप देनेसे तो पापका भी भागी होना सम्भव है। इस प्रकारके बुरे अभ्याससे स्वभावके बिगड़ जानेपर सत्यकी हानि और आत्माका पतन होता है।

(५) किसीके साथ हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। इसमें प्रायः विनोद-बुद्धिसे असत्य शब्दोंका प्रयोग हो ही जाया करता है। जिसकी हम हँसी उड़ाते हैं वह बात उसके मनके प्रतिकूल पड़ जानेपर उसके चित्तपर आघात पहुँच सकता है, जिससे हिंसा आदि दोषोंके आ जानेकी भी सम्भावना है।

(६) व्यंग्य और कटाक्षके वचन भी नहीं बोलने चाहिये। इनमें भी झूठ, कपट और हिंसादि-दोष घट सकते हैं।

(७) शब्द-चातुरीके वचनोंका प्रयोग नहीं करना

चाहिये। जैसे, शब्दोंसे तो कोई बात सत्य है, परन्तु उसका आन्तरिक अभिप्राय है विपरीत। राजा युधिष्ठिरने अपने गुरुपुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीका आश्रय लेकर शब्दचातुर्यका प्रयोग किया था। वह मिथ्या-भाषण ही समझा गया।

(८) मितभाषी बनना अर्थात् गम्भीरताके साथ विचारकर यथासाध्य बहुत कम बोलना चाहिये, क्योंकि अधिक शब्दोंका प्रयोग करनेसे विशेष विचारके लिये समय न मिलनेके कारण भूलसे असत्य शब्दका प्रयोग हो सकता है।

सत्यके पालन करनेवाले मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, द्वेष, ईर्ष्या और स्नेहादि दोषोंसे बचकर वचन बोलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिस समय सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है उस समय उपर्युक्त दोष प्रायः नष्ट हो जाते हैं। जब कि इनमेंसे किसी एक दोषके कारण भी मनुष्य सत्यसे विचलित हो जाता है तो फिर अधिक दोषोंके वशमें होकर असत्य-भाषण करनेमें तो आश्चर्य ही क्या है?

सत्य बोलनेवाले पुरुषको हिंसा और कपटसे खूब

सावधानी रखनी चाहिये। जिस सत्य-भाषणसे किसीकी हिंसा होती है तो वह सत्य सत्य नहीं है, इसके सम्बन्धमें महाभारत, कर्णपर्वके ६९ वें अध्यायमें कौशिक ब्राह्मणकी कथा प्रसिद्ध है। ऐसे अवसरपर सत्य-भाषणकी अपेक्षा मौन रहना अथवा न बतलाना ही सत्य है। हाँ, अपनी या दूसरेकी प्राण-रक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो वह सत्य तो नहीं समझा जाता, परन्तु उसमें पाप भी नहीं माना गया है।

जिस सत्यमें कपट होता है वह सत्य सत्य नहीं समझा जाता। सत्य बोलनेवाला मनुष्य जान-बूझकर सत्यका जितना अंश शब्दोंसे या भावसे छिपाता है, वह उतने अंशकी चोरी करता है। हिंसा और कपट—ये दोनों ही सत्यमें कलंक लगानेवाले हैं। इसलिये जिस सत्यमें हिंसा और कपटका थोड़ा भी अंश रहता है वह सत्य शब्दोंसे सत्य होनेपर भी झूठ ही समझा जाता है।

जो विषयी और पामर पुरुष हैं वे तो बिना ही कारण प्रमादवश झूठ बोल दिया करते हैं, क्योंकि वे सत्य-भाषणके रहस्य और महत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ

होते हैं। उनका पतन होना भी फलतः स्वाभाविक ही है, परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे सत्यको उत्तम समझकर उसके पालनकी इच्छा तो रखते हैं किन्तु उनसे भी सर्वथा सत्यका पालन होना कठिन है। अनन्त जन्मोंसे मिथ्या-भाषणका अभ्यास होनेके कारण उनके लिये भी सत्यकी सिद्धि दुष्कर है। पर विवेक-बुद्धिके द्वारा स्वार्थको छोड़कर जो सत्यके पालनकी विशेष चेष्टा करते हैं उनके लिये इसका पालन होना—इसकी प्रतिष्ठा होनी सम्भव है असाध्य नहीं। जो सत्यका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेता है अर्थात् जिसकी सत्यमें सर्वांग-प्रतिष्ठा हो जाती है उसकी वाणी सत्य हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कहता है वह सत्य हो जाता है। महर्षि पतंजलि भी योगपाद २ सूत्र ३६ में कहते हैं—

**'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'**

अगस्त्यके वचनोंसे नहुषका पतन हो जाना आदि अनेक कथाएँ शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही हैं।

सत्य बोलनेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है, क्योंकि जबतक भय रहता है तबतक वह यथार्थभाषी नहीं

होता—भयके कारण कहीं-न-कहीं मिथ्या-भाषण घट ही जाता है। जो सर्वथा सत्यको जीत लेता है वह क्षमाशील होता है, वह क्रोधके वशीभूत नहीं होता। क्रोधी मनुष्य सत्यके पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता है। क्रोधोन्मादमें वह क्या-क्या नहीं बक बैठता?

सत्य-पालनके प्रभावसे मनुष्यमें निरभिमानिता आ जाती है। मान और प्रतिष्ठाकी जहाँ इच्छा होती है वहाँ दम्भ और कपटको आश्रय मिल जाता है। और बस जहाँ इन्होंने प्रवेश किया वहाँसे सत्य तत्काल कूच कर जाता है। निःसन्देह कपटी और दम्भीका सत्यसे पतन हो जाना अनिवार्य है।

जब सर्वथा सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो उस सत्यवादीमें किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं रहती। भोगोंकी इच्छावाला मनुष्य भला क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठता? क्योंकि काम ही पापोंका मूल है। इसीलिये कामके वशीभूत हुआ कामी पुरुष झूठ, कपट, छल आदि दोषोंकी खान बन जाता है। अतएव सत्यके सम्यक् पालनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहंकार आदि दोषोंका नाश हो

जाता है और वह मनुष्य एक सत्यके ही पालनसे दया, शान्ति, क्षमा, समता, निर्भयता आदि सम्पूर्ण गुणोंका भण्डार बन जाता है। अतः मनुष्यको सत्य-भाषणपर कटिबद्ध होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

## सत्य-आहार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हो, शास्त्रके द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने परिश्रमद्वारा उपार्जित द्रव्यसे वह जो सात्त्विक* आहार करता है उसका नाम सत्य-आहार है। यद्यपि ब्राह्मणके लिये दान लेकर भी जीविका-निर्वाह करना शास्त्रानुकूल है तथापि दाताका उपकार किये बिना जो याचनावृत्तिसे अपना धर्म समझकर जीविका करता है वह ब्राह्मणोंमें निन्दनीय समझा जाता है। उससे तपका नाश, आलस्य तथा अकर्मण्यताकी वृद्धि होती है। इसलिये शास्त्रोक्त होनेपर भी इस

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(गीता १७।८)

प्रकारकी जीविकासे किया हुआ सत्य-आहार सत्य आहार नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको दाताका प्रत्युपकार करके अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे जीविकानिर्वाह करना चाहिये, इसी प्रकार क्षत्रियको भी स्वधर्मके अनुसार सत्य और न्यायसे उपार्जित शुद्ध द्रव्यसे जीविका चलानी चाहिये।

यद्यपि वैश्यके लिये व्याज लेकर जीविका-निर्वाह करना धर्मशास्त्रानुकूल है तथापि क्रय-विक्रय-व्यापारके बिना केवल व्याज-वृत्तिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें इसका उल्लेख ही नहीं किया। इससे आलस्य और निरुद्यमताकी वृद्धि होती है। गिरवी रखे हुए आभूषण और जमीन आदिकी कीमतसे भी मूलसहित व्याजकी रकम जब अधिक हो जाती है तो कर्जदार उनको छुड़ाकर वापस नहीं ले सकता। इससे उसकी आत्माको बड़ा कष्ट पहुँचता है। अतः केवल व्याजकी जीविका निन्दनीय है। इस प्रकारकी जीविकासे जो वैश्य आहार करता है वह आहार भी सत्य नहीं है, इसी प्रकार क्षत्रिय आदिके लिये समझ लेना चाहिये।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल

परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है उसका वह आहार सत्य-आहार कहलाता है। जैसे कोई वैश्य झूठ और कपटको त्यागकर ईश्वरकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर क्रय-विक्रय आदि न्याययुक्त जीविकाद्वारा प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करता है तो उसका वह आहार सत्य-आहार है। व्यापार करनेवाले वैश्यको उचित है कि यथासाध्य कम-से-कम मुनाफा लेकर माल बिक्री करे; गिनती, नाप और वजनमें न कम दे और न अधिक ले; व्याज, मुनाफा, आढ़त और दलाली ठहराकर न किसीको कम दे और न अधिक ले; लेन-देनके विषयमें जैसा सौदा चतुर और समझदार आदमीसे किया जाय उसी दरसे मूर्ख, भोले और सीधे-सादे आदमीके साथ करे अर्थात् सबके साथ सम बर्ताव करे। जो कुछ सम्पत्ति हो उसे ईश्वरकी समझकर लाभ-हानिमें सम रहते हुए दक्षतापूर्वक व्यापार करे और ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे मूलधनका नाश न हो; जहाँतक हो सके किसीकी जीविकाकी हानि न करके विशेष हिंसाका बचाव रखते हुए न्यायसे

धन उपार्जन करे और सादगीसे रहे; जितने कमसे अपना और अपने कुटुम्बका निर्वाह हो सके—ऐसी चेष्टा करे; बढ़े हुए धनमें भी अपना स्वत्व न समझकर संसारका हितचिन्तन करके लोकोपकारके ही लिये व्यय करे, यही सत्य व्यापार है। इस प्रकारके व्यापारद्वारा उपार्जित द्रव्यसे जो सात्त्विक अन्नादिका आहार किया जाता है वह वैश्यके लिये सत्य-आहार है, इसी प्रकार अन्य सबके लिये समझ लेना चाहिये।

## सद्भाव और सद्व्यवहार

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'सत्' परमेश्वरका नाम है। अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं। उन्हींको साधुभाव कहा गया है। गीताके १३वें अध्यायमें ये ज्ञानके नामसे एवं १६वेंमें दैवी-सम्पदाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें जो भाववाचक शब्द हैं वे सब साधुभाव समझे जाने चाहिये। जिन पुरुषोंमें उत्तम भाव रहते हैं वे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र समझे जाते हैं; अतः प्राप्तिमें हेतु होनेसे इनको सद्भाव कहा गया है।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृदता इत्यादि भाव साकार परमेश्वरमें तो स्वाभाविक होते हैं एवं भगवान्‌की शरण होकर उनकी उपासना करनेवाले भक्तोंमें उनकी दयासे विकसित हो जाते हैं। ऐसे सद्भावोंसे युक्त भक्त परमात्म-दर्शनके अधिकारी होते हैं। अतः हमलोगोंको ऐसे भावोंको प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण लेनी चाहिये। भगवत्-दयासे जिस मनुष्यमें उपर्युक्त सद्भाव आ जाते हैं उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं, क्योंकि सदाचारमें सद्भाव ही हेतु बतलाये गये हैं। जैसा आन्तरिक भाव होता है वैसी ही बाहरी चेष्टा होती है। अतः सद्भावसे मुक्ति और असद्भावसे पतन समझना चाहिये। उपर्युक्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न पुरुष यथासाध्य उस जगह नहीं जाता जहाँ मान, बड़ाई और पूजा मिलनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई व्यक्ति उसका अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है; यह तो निमित्तमात्र

है—ऐसा मानकर वह किसीसे द्वेष या घृणा नहीं करता; बल्कि अवसर पड़नेपर उसके हृदयसे संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

यदि उसके साथ कोई असद्व्यवहार करता है अथवा व्यंग्य और कठोर वाक्योंका प्रयोग करता है तो भी वह विनय और सरलतासे सनी हुई मधुर वाणीसे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक उत्तर देता है जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीको दिया—

**सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी।**
**जो पितु मातु बचन अनुरागी॥**
**तनय मातु पितु तोषनिहारा।**
**दुर्लभ जननि सकल संसारा॥**

**मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।**
**तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥**

**भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।**
**बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥**
**जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा।**
**प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥**

वास्तवमें ऐसा सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्‌में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

**सीय राममय सब जग जानी।**
**करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥**

ऐसे पुरुषोंका वैरी अथवा मित्रमें समभाव रहता है और काम पड़नेपर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधनके साथ किया था। महाभारतके युद्ध-आरम्भके पूर्व जब वे दोनों श्रीकृष्णके पास गये तो उन्होंने यही कहा कि मेरे लिये तुम दोनों ही समान हो। मेरे पास जो कुछ है उसे तुम दोनों इच्छानुसार बाँटकर ले सकते हो। एक ओर तो मेरी एक अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं स्वयं निःशस्त्र हूँ। तुम्हारे परस्परके युद्धमें मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा। इन दोनोंमेंसे जिसे जो जँचे वह ले सकता है। इसपर दुर्योधनने सेनाको लिया और अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको! तथा ऐसे पुरुषोंको बड़े भारी विषयभोग भी वैसे ही विचलित नहीं कर सकते, जैसे यमराजका दिया हुआ

प्रलोभन नचिकेताको न कर सका। उसने रथ, घोड़े और स्वर्गादिके ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको तत्काल ठुकराकर परमात्म-धनको ही पसन्द किया—

**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो**
**लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।**
**जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं**
**वरस्तु मे वरणीयः स एव॥**
**अजीर्यताममृतानामुपेत्य**
**जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।**
**अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-**
**नतिदीर्घे जीविते को रमेत॥**
**यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो**
**यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।**
**योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो**
**नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥**

(कठ० १।१।२७—२९)

'मनुष्य द्रव्यसे तृप्त नहीं होता। धन तो आपके दर्शनसे मिल ही जायगा। जबतक आप अनुग्रहपूर्वक प्राणियोंपर शासन करते हैं, तबतक मैं जीवित भी रह

सकूँगा, परन्तु मैं तो वही वर चाहता हूँ जो मैंने माँगा है। जरारहित अमृतरूप देवोंके समीप जाकर जरा-मरणयुक्त तथा पृथिवीरूपी अधःस्थानमें स्थित रहा हुआ कौन पुरुष अनित्य वस्तुको चाहेगा? रूप, क्रीडा और उससे उत्पन्न होनेवाले सुखको अनित्य जानकर भी कौन पुरुष लम्बी आयुसे सन्तुष्ट होगा? हे मृत्यो! परलोक-सम्बन्धी आत्म-तत्त्वमें जो शंका की जाती है, वह आत्मविज्ञान ही मुझसे कहिये, इस अत्यन्त गूढ़ वरके अतिरिक्त नचिकेता और कुछ नहीं माँगता।'

और ऐसे पुरुषोंका वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें भी प्रत्यक्षवत् विश्वास होता है। जैसे कल्याण-कामी सत्यकामका गुरु-वचनोंमें बड़ा भारी विश्वास था। वह उद्दालककी सेवामें ब्रह्मज्ञानके उपदेशार्थ उपस्थित होता है। उसे गुरु तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि—'ये चार सौ गायें वनमें ले जाओ, पूरी हजार हो जानेपर वापस चले आना।' (छान्दोग्य० ४। ४। ५) कहना नहीं होगा कि अपनी दृढ़ श्रद्धा और गुरुप्रसादके कारण सत्यकाम वनमें ही आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो गया।

अत्यन्त निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार करनेवालेके

साथ भी उत्तम पुरुष उदारता, दया और सुहृदताका ही बर्ताव करते हैं। इस सम्बन्धमें भक्त जयदेव कविका चरित्र बड़े महत्त्वका है—

एक बार भक्तशिरोमणि अयाचक जयदेवको किसी राजाने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके बहुमूल्य रत्न प्रदान किये। उस विपुल धनराशिको लेकर जब वह अपने घरको जा रहे थे तो मार्गमें डाकुओंसे भेंट हुई। लोभ किससे क्या नहीं करवा लेता? डाकुओंने रत्न छीनकर बेचारे निःस्पृही भक्तके हाथ काट डाले! धनलिप्साकी इतिश्री यहीं नहीं हो गयी! उन्होंने निर्दयतापूर्वक उन्हें पासके किसी जलहीन सूखे कुएँमें डालकर और भी अधिक पापकी पोटली बाँधी! दैवयोगसे राजा उसी कुएँपर प्यासके व्याकुल होकर आ पहुँचा। ज्यों ही पानी खींचनेके लिये रस्सी अन्दर लटकायी, त्यों ही परिचित-सी आवाज सुन पड़ी। पूछनेपर पता चला कि वह कष्टापन्न व्यक्ति जयदेवके सिवा कोई दूसरा न था! राजाने उसे बाहर निकलवाकर दुःखभरे चकित भावसे पूछा—'यह क्या हुआ जयदेव? किस निष्ठुरने तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहारकर अपनी मौतको याद किया

है?' भक्त चुप रहा—अनेक बार आग्रह करनेपर भी न बोला। राजाका कोई वश न चला। वह उसे अपने राजमहलमें ले जाकर रात-दिन उसकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहने लगा। संयोगसे वे ही डाकू महलकी ओर आते हुए दीख पड़े। आनन्दोल्लासभरे स्वरमें जयदेव बोल उठा—'राजन्! आप मुझे धन लेनेके लिये अनेक बार प्रार्थना किया करते हैं! आज आप इच्छानुसार खुले दिलसे मेरे इन मित्रोंको दान कर सकते हैं।' कहनेभरकी देरी थी। राजाने उन भयकम्पित डाकुओंको अपने पास बुलवाया। अपराधी लुटेरोंके प्राण कण्ठको आने लगे—टाँगें परस्पर टकराने लगीं। बहुत देरतक आशा-आश्वासन पानेके बाद उनका धड़कता हुआ हृदय थमा! साहस करके जो मनमें आया वही माँगा! अपने दुष्कृत्योंका उलटा फल पाकर वे अचम्भित और हर्षित हुए! साथमें कोतवालको नियुक्त करके उन्हें सादर बिदाई दी गयी। कोतवालने इस अद्भुत रहस्यके जाननेके लिये उत्सुकतापूर्ण भावसे पूछा—'क्यों जी, आपका जयदेवजी भक्तके साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने इतनी अधिक सम्पत्ति दिलवाकर किस कृतज्ञताका बदला चुकाया है?'

डाकुओंने छलभरी मुसकराहटके साथ कहा—

'कोतवाल साहब! हमलोगोंने इस जयदेवको एक बार मृत्युके मुखसे बचाया था—अब यह उसी प्राण-दानका बदला चुका रहा है।' अन्तिम अक्षरोंके निकलते ही उनके आगेकी पृथ्वी झटसे फट पड़ी और उन पतितोंको उसने अपनेमें सदाके लिये समा लिया। कोतवालने राजदरबारमें उपस्थित होकर दोनोंके सम्मुख सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही जयदेवकी आँखोंसे आँसू बह निकले! आँसू पोछनेपर उनके दोनों हाथ निकल आये, राजाके विस्मित होकर बार-बार पूछनेपर परम भागवत जयदेवने सारा हाल कह सुनाया! राजाका आश्चर्य घटनेकी अपेक्षा और भी अधिक बढ़ गया। उसने तत्काल पूछा—'जब आपके हाथ इन्होंने काट दिये तो ये मित्र कैसे?'

जयदेव—मैंने प्रतिग्रह स्वीकार न करनेकी जो प्रतिज्ञा कर रखी थी उसे आपके आग्रहवश तोड़नी पड़ी। उसी प्रतिज्ञाभंगके दण्डस्वरूप मेरे हाथ काटकर इन्होंने मुझे उपदेश दिया। इस प्रकारके क्रियात्मक उपदेशद्वारा हित-साधन करनेवाले लोग मित्र नहीं तो क्या हैं?

राजा—इनको आपने धन कैसे दिलवाया?

जयदेव—कहीं धनकी लालसा रहनेपर ये फिर भी कभी समय पाकर किसी निरपराधका खून कर सकते हैं, ऐसा विचारकर इनकी कामनापूर्ति और सन्तोषके लिये मैंने आपसे धन दिलवाया। मित्रताके नाते भी धन दिलवाना न्यायसंगत ही था।

राजा—इनकी मृत्युसे आप रोने कैसे लगे?

जयदेव—मेरे निमित्तसे इन्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। मुझे लोग श्रेष्ठ कहते हैं, श्रेष्ठके संगका फल श्रेष्ठ होना चाहिये, पर हुई बात इसके विपरीत। इसीलिये मैं रोता हूँ कि—'हे प्रभो! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया था कि जिससे इनको मेरे संगका यह दुष्परिणाम भोगना पड़ा?'

राजा—तो आपके हाथ कैसे आ गये?

जयदेव—यह ईश्वरकी दया है! वे अपने सेवकके अपराधोंका विचार न कर अपने विरद—अपने दयापूर्ण स्वभावकी ओर ही देखते हैं।

भक्तशिरोमणि जयदेवके ये वचन सुनकर राजा पुलकित हो उठा—आनन्दसे गद्‌गद हो गया। इसका नाम है सत्यपालकका सद्‌भाव और उसकी सहृदयता।

## सत्कर्म

परम पिता परमेश्वर सत् हैं, इसलिये उनके निमित्त किये जानेवाले कर्म भी सत्कर्म हैं।

**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥**

(गीता १७। २७)

अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषद्वारा जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह भगवदर्थ ही होता है।

**तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।**
**दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥**

(गीता १७। २५)

इस प्रकार ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्थान-स्थानपर इस प्रकार कर्म करनेकी आज्ञा अर्जुनको दी है। देखिये—गीता अ० ३। ९; ९। २७; १२। १०-११ आदि।

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये। जैसे सच्चा

सेवक (मुनीम–गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता है और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष–शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकारगत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म अथवा क्रिया करे उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस प्रकार बन्दर नटकी इच्छा और आज्ञानुसार करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वरकी इच्छाका पता किस प्रकार चले? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आप इस सम्बन्धमें ईश्वरसे पूछ सकते हैं। वह आपके हृदयमें विराजमान है—

**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो**
**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**

(गीता १५।१५)

'हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है' यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे। जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तो उसे पवित्र आत्माद्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है। साधारणतः जैसे कोई अपनी आत्मासे पूछता है कि 'चोरी, व्यभिचार, झूठ और कपट आदि कर्म कैसे हैं?' तो उत्तर मिलता है कि 'त्याज्य हैं—निषिद्ध हैं!' इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य आदिके विषयमें सम्मति माँगनेपर यही उत्तर मिलता है कि 'अवश्य पालनीय हैं।' अज्ञान, राग-द्वेष और संशय आदि दोषोंद्वारा हृदयके आच्छादित रहनेपर किसी-किसी विषयमें निश्चित उत्तर नहीं मिलता; अतः ऐसे अवसरपर अपनी दृष्टिमें जो भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष हों, उनके द्वारा बतलाये हुए विधानको ईश्वरकी आज्ञा मानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करवानेवाले व्यवहारका नाम ही सद्व्यवहार है। इसीको सदाचार कहते हैं।

अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको उचित है कि वे इसके पालनकी ओर विशेषरूपसे सचेष्ट रहें। भगवत्प्राप्त पुरुषोंमें तो सत्यका आचरण स्वाभाविक ही होता है।

संसारमें किसी जीवको कभी भी किसी प्रकारसे दुःख, भय और क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिये और न पहुँचानेकी इच्छा या प्रेरणा ही करनी चाहिये। यदि कोई किसीको कष्ट पहुँचाता हो तो उसको किसी प्रकारसे न तो सहायता ही देनी चाहिये और न उसका अनुमोदन ही करना चाहिये। इतना ही नहीं, वरं भीतरमें प्रसन्नता भी न माननी चाहिये।

अज्ञान और राग-द्वेष सदाचारके लिये परम विघातक हैं। अतः साधकको इनसे खूब ही बचकर रहना चाहिये। भ्रम और मूर्खताके कारण मनुष्य हर एक प्रकारके दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये सदाचारी मनुष्यको सत्य और असत्यके विषयमें शास्त्र और साधु पुरुषोंकी सहायतासे अपनी बुद्धिद्वारा निर्णय करके सत्यका आचरण करना चाहिये। अन्यथा वह सत्यको असत्य और दुराचारको सदाचारका रूप देकर

दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसका परमार्थ भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

## राग

यह साधकका बड़ा भारी शत्रु है। यही काम और लोभके रूपमें परिणत होकर समस्त अनर्थोंका मूल बन जाता है। इसीके कारण यह विषयोंका दास होकर अर्थकी कामनाके लिये संसारमें भटकता फिरता है। आत्म-सुधारकी कामनावाले पुरुषको इस बातका पद-पदपर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मैं स्वार्थके चंगुलमें फँसकर आचरण-भ्रष्ट न हो जाऊँ! जब मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करता है तो आसक्तिके स्वाभाविक दोषके कारण उस कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें निजी स्वार्थका अन्वेषण करने लगता है और सोचता है कि उस कार्यके करनेमें मुझे क्या लाभ प्राप्त होगा? इस प्रकारकी अर्थ-कामना उसे सब विषयोंका दास बनाकर श्रेय-मार्गसे तत्काल गिरा देती है। अतः कल्याणकामी साधकको उचित है कि वह कार्य-आरम्भके पूर्व ही सावधान हो जाय कि जिससे स्वार्थको घर कर लेनेका अवसर न मिल सके। मनमें

स्वार्थके प्रवेश कर जानेसे सदाचार दुराचारके रूपमें परिणत हो जाता है। सदाचारका पालन करनेमें यदि भूलसे कुछ कमी आ जाय या किसी अंशमें कहीं पालन न बन सके तो निःस्वार्थी पुरुष दोषी नहीं समझा जाता। दोष तो सारा स्वार्थसे आता है। स्वार्थ बड़ा ही प्रबल है, इसका ऐसा विस्तार और प्रसार है कि यह पद-पदपर व्याप्त है, इसीलिये सावधान होनेपर भी धोखा हो जाता है। संसारके सम्पूर्ण कर्मों और समस्त पदार्थोंमें इसने अपना स्थान बना रखा है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इसके फेरमें पड़कर कर्तव्यको भूल जाते हैं। स्वार्थसे बचने, स्वार्थका समूल नाश करनेके लिये मनुष्यको सतत सावधानीसे प्रयत्न करते रहना चाहिये और बार-बार अन्तर्वृत्ति करके देखना चाहिये। जो पुरुष इस स्वार्थपर विजय पाता है, सब प्रकारकी कामना और स्पृहाको त्यागकर विचरता है वही परम शान्तिको प्राप्त होता है। विषय-लोलुप मनुष्योंके न तो आचरणोंमें ही सम्यक् सुधार होता है और न उन्हें कभी कहीं शान्ति ही मिलती है।

## द्वेष

रागकी भाँति द्वेष भी मनुष्यका परम शत्रु है। इसीके कारण वह क्रोधके वशीभूत हो कर्तव्य भूलकर विपरीत आचरण करने लगता है, जिससे उसका सर्वनाश हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वेषका मूल कारण वास्तवमें राग या आसक्ति ही है। इसी राग या आसक्तिसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीषण शत्रुओंका दल उत्पन्न होकर मनुष्यको सदाचारसे गिराकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, जिससे वह परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये आसक्तिके त्यागपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

आसक्तिरहित पुरुषकी प्रत्येक क्रिया स्वार्थहीन होती है, इससे उसके हर एक आचरणमें प्रेम और दयाका भाव विकसित हुआ रहता है। किसी भी पदार्थमें राग न रहनेके कारण, संसारके जितने भोग्य पदार्थ हैं उसके अधीन होते हैं, उन सबको वह उदार-चित्तसे देश-काल-पात्रके अनुसार लोकहितार्थ सद्व्यय करनेकी चेष्टामें रहता है। ऐसे सत्पुरुषोंकी सारी क्रियाएँ मूर्ख और अज्ञानियोंकी समझमें नहीं

आतीं। वे उसकी क्रियाओंको अपनी अज्ञानावृत क्रियाओंसे तुलना करके उनमें दोष ही देखा करते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसे महात्माओंकी स्वार्थरहित क्रियाओंमें दोषका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता। इस लोक या परलोककी कोई भी कामना या स्वार्थ न रहनेके कारण ऐसे महापुरुषोंके आचरण अज्ञानी मनुष्योंकी दृष्टिमें दोषयुक्त होनेपर भी सर्वथा पवित्र होते हैं। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका और संसारकी किसी भी स्थितिका लोभ नहीं होनेके कारण संसारकी कोई भी वस्तु इन्हें अपनी ओर नहीं खींच सकती, वे नित्य निर्भयपदमें स्थिर रहते हुए न तो किसीसे डरते हैं और न किसीके साथ कठोर बर्ताव ही करते हैं। विनय, कोमलता, सत्य और शान्तिकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही होते हैं। क्षमा उनका स्वभाव बन जाता है इससे क्रोधकी उत्पत्ति उनमें कभी होती ही नहीं, कभी योग्यता प्राप्त होनेपर उनमें कोई क्रोधकी-सी बाहरी क्रिया देखी जाती है; परन्तु वस्तुतः उनमें क्रोध नहीं हो सकता। सर्वत्र सबमें समबुद्धि होनेके कारण वे किसीकी अनुचित निन्दा-स्तुति नहीं करते।

झूठ-कपटका उनमें सर्वथा अभाव होता है। जहाँ, जिस बातके प्रकट हो जानेसे किसीको हानि पहुँचती हो या अपनी प्रशंसा होती हो उसे वे यदि छिपा लेते हैं तो उनका यह आचरण कपट, असत्य या स्तेयमें नहीं गिना जाता।

## उपसंहार

सत्यका विषय बड़ा व्यापक है। इसपर बहुत अधिक लिखा जा चुका है तो भी इसमें मनके सब भाव व्यक्त नहीं हो पाये हैं। इसकी विशदरूपसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता है; किन्तु लेख बढ़ जानेके संकोचसे जहाँतक बन पड़ा, संक्षिप्तमें ही समाप्त करनेकी चेष्टा की है।

सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्पूर्ण उत्तम गुणोंकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। सत्यका आश्रयी सत्पुरुष सद्गुणोंका समुद्र और ज्ञानका भण्डार बन जाता है। यद्यपि सत्यके पालनमें आरम्भमें साधकको अनेक प्रकारकी कठिनाइयों और क्लेशोंका सामना करना पड़ता है, किन्तु सत्यकी सिद्धि हो जानेपर उसके शोक और मोहका आत्यन्तिक अभाव

हो जाता है। अतः सत्यके पालन करनेवाले पुरुषको निर्भयतासे अपने लक्ष्यपर डटे रहना चाहिये। एक ओर सत्यका त्याग और दूसरी ओर प्राणोंका त्याग—इन दोनोंको तौलनेपर सत्यका पलड़ा ही भारी मालूम देता है। इसलिये यदि मनुष्य प्राणोंकी भी परवा न करके सत्यपर डटा रहेगा तो सभी आपत्तियाँ देखते-ही-देखते आप ही नष्ट हो जायँगी। अन्तमें उस सत्यकी विजय होगी। उदाहरणार्थ प्रह्लादका इतिहास प्रसिद्ध है। सत्यके लिये प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं है। वह तो स्वयं, स्वतः प्रमाण है। अन्य सब प्रमाणोंकी सिद्धि सत्यपर ही अवलम्बित है। सत्यका प्रतिपक्षी सत्यको नष्ट करनेके लिये चाहे जितने उपाय करे, सत्यको जरा भी आँच नहीं आती—बल्कि वह जितना ही कसौटीपर कसा जाता है—जितना ही तपाया जाता है उतना ही वह उज्ज्वल रूप धारण करता रहता है। जो ताड़नासे, तापसे मिट जाय वह सत्य ही नहीं है। जो सत्य-पालनका थोड़ा-सा भी महत्त्व समझ गया है उससे सत्यका त्याग होना कठिन है, फिर जिन्होंने इसके तत्त्वका सम्यक् परिज्ञान

प्राप्त कर लिया है वे कैसे विचलित हो सकते हैं? केवल एक सत्यका तत्त्व जान लेनेपर मनुष्य सब तत्त्वोंका ज्ञाता बन जाता है, क्योंकि सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। अतः मन, वाणी और इन्द्रियोंद्वारा सत्यकी शरण लेनी चाहिये। सत्य सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। अन्वेषण करनेपर सर्वत्र सत्यकी ही प्रतीति और अनुभूति होने लगेगी। जो कुछ भी प्रतीत होता है, विचारपूर्वक परीक्षा करनेसे सबका बाध होकर एक सत्य ही शेष रहता है। सम्पूर्ण संसारका अस्तित्व सत्यपर टिका हुआ है। इसके बिना किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कोई भ्रमवश इसके विपरीत मान लेता है, वह विपरीतता ठहरती नहीं। वर्षा होनेसे जैसे बालूकी दीवार विशेष समयतक नहीं ठहर सकती, इसी प्रकार विचार-बुद्धिसे अन्वेषण करनेपर असत्यका अस्तित्व तुरन्त ही लुप्त हो जाता है। बालूकी दीवारके नष्ट होनेपर बालूके कण तो रहते भी हैं पर इस असत्यका तो नामोनिशान भी मिट जाता है। जो असत्य है उसे भले ही कितने

ही साधनोंसे सत्य प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाय पर अन्तमें असत्य ही रहेगा—अस्तित्वहीन रहेगा और सत्यको मिटानेके सभी प्रयत्न निष्फल होंगे। ऐसा महत्त्व होनेपर भी जो मूढ़ इसे छोड़कर असत्यका आश्रय लेते हैं वे निस्सन्देह दयनीय हैं। अतएव कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर करना चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

॥ श्रीहरिः ॥

# नित्यपाठ, साधन-भजन एवं कर्मकाण्ड-हेतु

| कोड | पुस्तक |
|---|---|
| 592 | **नित्यकर्म-पूजाप्रकाश** [गुजराती, तेलुगु भी] |
| 1593 | **अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश** |
| 1895 | **जीवच्छ्राद्ध-पद्धति** |
| 1809 | **गया श्राद्ध-पद्धति** |
| 1928 | **त्रिपिण्डी श्राद्ध-पद्धति** |
| 1416 | गरुडपुराण-सारोद्धार (सानुवाद) |
| 1627 | **रुद्राष्टाध्यायी**-सानुवाद |
| 1417 | **शिवस्तोत्ररत्नाकर** |
| 1774 | **देवीस्तोत्ररत्नाकर** |
| 1623 | **ललितासहस्रनामस्तोत्रम्**- [तेलुगु भी] |
| 610 | **व्रत-परिचय** |
| 1162 | एकादशी-व्रतका माहात्म्य— मोटा टाइप [गुजराती भी] |
| 1136 | **वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य** |
| 1588 | **माघमासका माहात्म्य** |
| 1899 | **श्रावणमासका माहात्म्य** |
| 1367 | **श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा** |
| 052 | **स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद [तेलुगु, बँगला भी] |
| 1629 | ,, ,, सजिल्द |
| 1567 | **दुर्गासप्तशती**— मूल, मोटा (बेड़िया) |
| 876 | ,, मूल गुटका |
| 1727 | ,, मूल, लघु आकार |
| 1346 | ,, सानुवाद मोटा टाइप |
| 118 | ,, सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओड़िआ भी] |
| 489 | ,, सानुवाद, सजिल्द [गुजराती भी] |

| कोड | पुस्तक |
|---|---|
| 1281 | **दुर्गासप्तशती** (विशिष्ट सं०) |
| 866 | ,, केवल हिन्दी |
| 1161 | ,, केवल हिन्दी मोटा टाइप, सजिल्द |
| 819 | श्रीविष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य |
| 206 | **श्रीविष्णुसहस्रनाम**—सटीक |
| 226 | **श्रीविष्णुसहस्रनाम**—मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी] |
| 1872 | श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् -लघु |
| 509 | **सूक्ति-सुधाकर** |
| 1801 | **श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्** (हिन्दी-अनुवादसहित) |
| 207 | **रामस्तवराज**—(सटीक) |
| 211 | **आदित्यहृदयस्तोत्रम्**— हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवादसहित [ओड़िआ भी] |
| 224 | **श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र** [तेलुगु, ओड़िआ भी] |
| 231 | **रामरक्षास्तोत्रम्**— [तेलुगु, ओड़िआ, अंग्रेजी भी] |
| 1594 | **सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह** |
| 1850 | **शतनामस्तोत्रसंग्रह** |
| 715 | **महामन्त्रराजस्तोत्रम्** |
| | **नामावलिसहितम्** |
| 1599 | **श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्** (गुजराती भी) |
| 1600 | **श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्** |
| 1601 | **श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्** |
| 1663 | **श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्** |
| 1664 | **श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्** |
| 1665 | **श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्** |

| कोड | पुस्तक |
|---|---|
| 1706 | श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् |
| 1704 | श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम् |
| 1705 | श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम् |
| 1707 | श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम् |
| 1708 | श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम् |
| 1709 | श्रीगंगासहस्रनामस्तोत्रम् |
| 1862 | श्रीगोपाल स०-सटीक |
| 1748 | संतान-गोपालस्तोत्र |
| 563 | शिवमहिम्नःस्तोत्र [तेलुगु भी] |
| 230 | अमोघ शिवकवच |
| 495 | दत्तात्रेय-वज्रकवच सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी] |
| 229 | श्रीनारायणकवच [ओड़िआ, तेलुगु भी] |
| 1885 | वैदिक-सूक्त-संग्रह |
| 054 | भजन-संग्रह |
| 1849 | भजन-सुधा |
| 140 | श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली |
| 144 | भजनामृत |
| 142 | चेतावनी-पद-संग्रह |
| 1355 | सचित्र-स्तुति-संग्रह |
| 1800 | पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह |
| 1214 | मानस-स्तुति-संग्रह |
| 1092 | भागवत-स्तुति-संग्रह |
| 1344 | सचित्र-आरती-संग्रह |
| 1591 | आरती-संग्रह—मोटा टाइप |
| 153 | आरती-संग्रह |
| 1845 | प्रमुख आरतियाँ-पॉकेट |
| 208 | सीतारामभजन |
| 221 | हरेरामभजन— दो माला (गुटका) |
| 222 | हरेरामभजन—१४ माला |
| 225 | गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, [तेलुगु, कन्नड़, ओड़िआ भी] |

| कोड | पुस्तक |
|---|---|
| 385 | नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, सानुवाद [बँगला, तमिल भी] |
| 1505 | भीष्मस्तवराज |
| 699 | गङ्गालहरी |
| 1094 | हनुमानचालीसा— हिन्दी भावार्थसहित |
| 1917 | ,, मूल (रंगीन) वि०सं० |
| 227 | ,, (पॉकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी] |
| 695 | हनुमानचालीसा—(लघु आकार) [गुजराती, अंग्रेजी, ओड़िआ, बँगला भी] |
| 1525 | हनुमानचालीसा—अति लघु आकार [गुजराती भी] |
| 228 | शिवचालीसा—असमिया भी |
| 1185 | शिवचालीसा-लघु आकार |
| 851 | दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा |
| 1033 | ,, लघु आकार |
| 232 | श्रीरामगीता |
| 383 | भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी.... |
| 203 | अपरोक्षानुभूति |
| 139 | नित्यकर्म-प्रयोग |
| 524 | ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री |
| 236 | साधक-दैनन्दिनी |
| 1471 | संध्या, संध्या-गायत्रीका महत्त्व और ब्रह्मचर्य |
| 210 | सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण-बलिवैश्वदेवविधि—मन्त्रानुवादसहित [तेलुगु भी] |
| 614 | सन्ध्या |